# अहिंसा की सही समझ

मुनि श्री नथमलजी

प्रकाशक :

सरदारशहर, ( राजस्थान )

प्रकाशक :
आदर्श साहित्य संघ
सरदारशहर
( राजस्थान )

प्रथमावृति २५००
अषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी
सम्वत् २०१२

मुद्रक
धन्नालाल बरडिया
रेफिल आर्ट प्रेस
(आदर्श-साहित्य-संघ द्वारा संचालित)
३१, बडतल्ला स्ट्रीट,
कलकत्ता।

विचार-भेद होता है वहाँ आलोचनाएँ भी होती है। इसमे कोई बहुत बड़ा आश्चर्य नहीं। तेरापंथके क्रान्त अहिंसक दृष्टिकोण पर दो शताब्दियोंसे आलोचनाएं होती आरही है, परन्तु उनका स्तर कभी ऊँचा नहीं रहा। वे अधिकाशतया द्वेष पूर्ण ही रही है। इसलिए उनमे तथ्योंके परीक्षाकी अपेक्षा उनकी तोड-मरोड ही अधिक मिलती है। भाई परमानन्दजीकी आलोचनाको देखकर ऐसा लगा कि आलोचनाकी दिशाने नई करवट ली है। वे मानवीय-स्वभावकी सामान्य दुर्वलताके अतिरिक्त आलोचनीय विपयको स्पर्श किये चले है। उन्होंने तेरापंथ-सम्मत अहिंसाके वारेमे जो आपत्तियाँ खड़ी की है उनके वारेमे तेरापंथका जो दृष्टि-विन्दु है, वह संक्षेपमें इस निवन्धमें मिल जाता है। आचार्य श्रीतुलसीके साथ हुए वार्तालाप और तेरापंथी साहित्यके आधार पर जो संक्षिप्त विचार वे जान पाये उन्हें कुछ विशद दृष्टिकोणसे जाननेका प्रयत्न करें। महात्मा गाँधीके विचारोंको भी जैन-दृष्टिसे तोलें और अहिंसाकी मर्यादाको यथार्थवादी दृष्टिकोणसे देखनेका यत्न करें।

'एक-एक व्यक्ति सम्प्रदाय है'—आचार्य श्री तुलसीके इस छोटेसे वाक्यमे मानव-स्वभावका प्रतिनिधित्व है। मानवका गुण या दोष कुछ भी समझिये, वह अपने विचारोंसे मेल न खानेवाले विचारोंको पूर्ण माननेके लिये तैयार नहीं होता। अपनी श्रद्धा और धारणाको पूर्ण सत्य माननेका आधार व्यक्तिका अपना विचार ही होता है वहा जटिलता और बढ जाती है। मैं अपने लेखके प्रारम्भमें ही यह बताना चाहूंगा कि आचार्य भिक्षुने भगवान् महावीरकी वाणीके आधार पर जो दृष्टि दी, वह अहिंसाका परमार्थवाद है। स्वार्थ "स्व" मे (अपने आपमें) लीन रहनेकी वृत्ति है। दूसरोंसे इसका सम्बन्ध नहीं जुडता, इसलिये दूसरोंकी दृष्टिमे इसका विशेष मूल्य नहीं आका जाता। परार्थ—दूसरोंके लिये अपने स्वका विसर्जन है। इसका स्वरूप है—स्वको दूसरोंमें लीन कर देना। इससे दूसरोंको लाभ पहुंचता है, समाजकी नींव सुदृढ़ बनती है, इसलिये यह विशेष मूल्यवान माना जाता है। परमार्थ—परमके लिये सब कुछका त्याग—अपने शरीर तकका त्याग—

स्वको परमें लीन कर देना। यह आत्म-लीनता है। आत्म-साधकके लिये इसका मूल्य सर्वोत्कृष्ट है। इन तीनोंमें पहला व्यक्तिवाद है, दूसरा समाजवाद और तीसरा मोक्षवाद।

स्वार्थ और परार्थ—दोनों वर्तमान जीवनके निर्वाहकी अपेक्षायें है इसलिए कोई भी सामाजिक व्यक्ति, चाहे वह आत्मवादी हो या अनात्मवादी, इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। परमार्थ वर्तमान जीवनके निर्वाहकी अपेक्षा नहीं है, साधन नहीं है, वह साध्य है। उसकी साधना आत्मवादी ही करता है। अनात्मवादीकी उसमें श्रद्धा ही नहीं होती फिर वह उसकी साधना ही क्यों करे? आत्मवादी भी उसकी साधना मोहनाशके अनुसार ही कर पाता है।'

परमार्थकी साधना संयम है। वह अपने लिये (स्वार्थ) हो या दूसरोंके लिये (परार्थ), परमार्थ ही है। असंयमके धारक स्वार्थ और परार्थ परमार्थ नहीं बनते। स्वार्थ अपनी सीधी आवश्यकता है इसलिये उसके साथ धर्मकी कल्पना नहीं जुडी। परार्थ अपनी आवश्यकता तो है किन्तु प्रत्यक्ष नहीं, इसलिये उसके साथ धर्मकी कल्पना जुड़ी। फलस्वरूप "प्रवर्तक धर्म" का उदय हुआ। परमार्थ अपनी या दूसरोंकी आवश्यकता नहीं। वह केवल बन्धन-मुक्तिकी साधना है। इस परमार्थवादसे निवर्तक धर्म फलित हुआ।

परार्थ और परमार्थ—इन दोनों क्षेत्रोंमें दया और दानका विकास हुआ। परार्थवादमें—अशक्त है इसलिये दया और

हीन है इसलिये दान—ऐसी धारणायें चल रही हैं। इस व्यवस्थासे अहंवृत्ति और हीन मनोवृत्तिका समर्थन होता है। वर्ग भेदको प्रश्रय मिलता है। परमार्थवादमें 'स्व' और 'पर' का पतन न हो, विकास हो, इसलिये दया और संयम बढ़े इसलिये दान—दया और दानका यह स्वरूप है। फलस्वरूप संयमका विकास होता है।

आचार्य भिक्षुने कहा—संयम ही धर्म है। तपस्या भी इसलिए धर्म है कि उसमें संयम होता है। श्रद्धा मात्र, ज्ञान मात्र धर्म नहीं किन्तु जो संयममय हैं वे ही धर्म है, संयम, तप, श्रद्धा और ज्ञान—यह धर्मका स्वरूप है। इस स्वरूपवाला धर्म ही मोक्षका साधन है। इसकी दृष्टिमें इसके सिवाय शेष सब अधर्म है, वन्धनके कारण हैं। आचार्य भिक्षुने यह स्पष्ट कर दिया—यह विचार मोक्ष-धर्मकी दृष्टिका है। समाज-व्यवस्थाको इस दृष्टिसे देखाजाय तो भूल हो सकती है। उनके समूचे प्रयत्नका सार यही था कि लोग मोक्ष-साधना और समाज-व्यवस्थाके भूमिका-भेदको समझें। उन्होंने समाजकी उपयोगिताका विरोध या निषेध नहीं किया। उनके विरोधकी वस्तुएँ निम्न है—

१-हिंसा विना धर्म नहीं हो सकता।

२-धर्मार्थ हिंसा निर्दोष।

३-एक ही प्रवृत्तिमे अल्प हिंसा और बहुत अहिंसा।

४-छोटे जीवोंकी बलि द्वारा बड़े जीवोंकी रक्षा धर्म।

५-मानव रक्षाकी प्रधानता। आदि-आदि।

परमार्थवादी फलितोंको परार्थवादी दृष्टिसे देखनेपर उलझनें आती हैं। समस्याका समाधान इसमें है कि परमार्थवादके फलितोंको परमार्थकी दृष्टिसे ही देखें।

## १ : आदर्श तक पहुंचना सरल नहीं होता फिर भी उसे नीचे नहीं लाना चाहिए :

मनुष्य जीवनका आदर्श "पूर्ण अहिंसा" होना चाहिये। अहिंसाकी दिशामें चलते-चलते मनुष्यने क्रमिक विकास किया है। व्यक्ति-व्यक्तिके जीवनमे उसका तारतम्य मिलता है। गृहस्थ-जीवनकी आवश्यकतायें होती हैं किन्तु वे असीम नहीं होनी चाहियें। ससीम आवश्यकताओंमे भी तीव्र आसक्ति नहीं होनी चाहिये। तीव्र आसक्तिसे बन्धन तीव्र होता है और मन्द आसक्तिसे मन्द। अल्प आवश्यकतायें, अल्प आसक्ति और अल्प हिंसा होती है, यह वस्तु-स्थितिका स्वीकार है। उसे अहिंसा धर्म या निर्दोष मानकर आदर्शको नीचे नहीं लाना चाहिये।

## २ : अल्पतम हिंसा अहिंसा नहीं हो सकती :

अल्पतम हिंसाका अर्थ अहिंसा नहीं है। मुनिका जीवन अल्पतम हिंसाका जीवन नहीं है। वह सर्व हिंसाका त्याग करता है (दशवै० ४।१ महाव्रत)। प्रमादवश उससे हिंसा हो जाती है वह हिंसा ही है, उसे अहिंसा नहीं कहा जा सकता। श्वास लेने और चलने-फिरनेमें हिंसा होती है—ऐसा नियम नहीं

है। असावधानीसे चलने-फिरनेमें हिंसा होती है। सावधानी-पूर्वक चलने-फिरनेवाला मुनि हिंसक नहीं होता ( भगवतीसूत्र श० १८ उ० ८ ) भगवान् महावीरके सिद्धान्तका संक्षेपमे सार इतना सा है—

क-मुनि सर्व हिंसाका त्यागी होता है।

ख-भूलसे हुई हिंसाका दोष उसे लगता है।

ग-सावधान दशामें वह चलता-फिरता, खाता-पीता हुआ भी हिंसक नहीं होता।

घ-उसकी अल्पतम हिंसा भी अहिंसा नहीं हो सकती।

## २ : छोटे जीवोंकी बलिके द्वारा बड़े जीवोंको बचानेकी बात अहिंसाको मान्य नहीं :

गृहस्थकी भूमिका मुनि जैसी कठोर नहीं होती। वह अपनी आवश्यकताओंको भिक्षा द्वारा पूरी नहीं कर सकता। उसके सामने अल्प-हिंसाके सिवाय दूसरा विकल्प नहीं होता, इसलिये वह उसे अपनी आवश्यकता मान, स्वीकार करता है किन्तु उसके द्वारा छोटे जीवोंकी हिंसासे बड़े जीवोंको बचानेका सिद्धान्त फलित नहीं होता। विकसित जीवोंको बचाकर अल्प-विकसित जीवोंकी हिंसाको अनुमत करना—यह अहिंसाका सिद्धान्त नहीं है। पशुको बचाकर मनुष्यको क्यों न मारा जाये—यह प्रश्न मनुष्य जातिके नाते मनुष्य करता है। अहिंसकके सामने ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता। वहा न तो मनुष्यको बचानेके लिये पशुको मारना चाहिये और न पशुको बचानेके लिये मनुष्यको। मनुष्य और पशु—दोनोंमेसे एकको मारकर दूसरेको बचानेका

प्रसंग हो वहा पशुको मारना और मनुष्यको बचाना चाहिये— यह स्थूल-व्यवहार या मनुष्यका अपना स्वार्थ हो सकता है। कहीं-कहीं बड़े आदमियोंके घोड़ों और कुत्तोंके लिये मनुष्योंको प्राणोंसे खेलना पड़ता है। समाज उसे क्षम्य भी मान लेती है किन्तु व्यवहारके ये प्रसंग अहिंसकको मान्य नहीं होते। इसलिये महात्मा गांधी लिखते हैं—"माणस ने मारीने माकडने उगारवो, ए धर्म होय ऐवो प्रसंग पण आववो शक्य होय छे। माकड़ने मारीने माणसने उगारवो, ए धर्म होय ऐवो प्रसंग पण शक्य छे। हूं तो ए बन्ने जात ना प्रसंग मां थी उवरी जावानो मार्ग कहूं छू। ते दया-धर्म छे।" ( नवयुग १७ पृ० १५९१ ता० २४-१२-२१ )

वनस्पतिके जीवोंको बचानेके लिये मासाहार करना अथवा बड़े जीवोंको बचानेके लिये वनस्पतिका आहार करना—ये दोनों ही अहिंसाकी दृष्टिसे निर्दोष नहीं है। निर्दोष मार्ग है— किसीकी भी हिंसा न करना। ऐसा न बन सकनेकी स्थितिमें व्यक्तिको चुनाव करना पड़ता है। किन्तु यह हिंसा और अहिंसाके बीच नहीं होता। यह चुनाव अल्प-हिंसा और बहु-हिंसाके बीचका है। वनस्पति मनुष्यका स्वाभाविक भोजन और न्यूनतम आवश्यकता मानी गई है, वैसे मास नहीं है। उसे खानेके पीछे स्वाद-वृत्ति, पौष्टिकता आदि भावनायें होती हैं। मादकता, उत्तेजकता आदि उसके दोष है। इससे वृत्तियोंकी तामसिकता—हिंसा बढ़ती है। मास-भोजनके लिये बड़े जीवोंकी ही नहीं उनके साथ-साथ असंख्य छोटे जीवोंकी भी अतिरिक्त

हिंसा होती है। ऐसे अनेक प्रसंग मिलकर मासाहार-वर्जनके निमित्त बनते है।

वनस्पति—फल पकने पर निर्जीव हो जाते है। वह जीवन-निर्वाहकी न्यूनतम आवश्यकता है। सजीव-वनस्पति खानेमें उससे अधिक हिंसाकी सम्भावना रहती है, त्रस जीवोंको मारनेमे उससे अधिक—ऐसा व्यावहारिक निष्कर्ष है किन्तु मासाहार-वर्जनका एकान्तिक आधार यही नहीं है। छोटे जीवोंको मारनेमे हिंसा कम होती है और बड़े जीवोंको मारनेमें अधिक, ऐसा एकान्तिक निर्णय संगत नहीं। हिंसाकी लघुता और गुरुता प्राणियोंके छोटे-बड़े होने पर नहीं तोली जाती, उसका तोल हिंसकका मन्द या तीव्र भाव आदि अनेक स्थिति सापेक्ष होता है (सूत्रकृतांग २. ५. ६, २, ६. ५२)। इसलिये जीवनकी कठिनाईके व्यावहारिक समाधानको अन्तिम सत्य मानकर नहीं चलना चाहिये।

## ४ : मनुष्य-रक्षाको प्राथमिकता देनेमें मनुष्यका अपना स्वार्थ है इसलिये वह समाज-सम्मत भले हो, अहिंसा धर्ममें ऐसा भेदभाव नहीं होना चाहिए

हिंसागर्भित प्रवृत्तियां धर्म रूपमें स्वीकृत हुई है। यह विचार समाज-शास्त्रका भले माना जाय, अहिंसा-दर्शन उसे मान्य नहीं करता। भगवान् महावीर कहते हैं—"हिंसासे धर्म होता है, यह अनार्य वचन है" (आचारांग १.४ २) ; ।।प्रयोजनके लिये या बिना प्रयोजन धर्म, अर्थ और कामके लिये जो हिंसा करते है, वे मन्द

बुद्धि है। (आचाराग)। मनुष्य अनिवार्य हिंसासे मुक्ति नहीं पा सकता, यह उसकी दुर्बलता है। किन्तु उसे अहिंसा-धर्म मानना उचित नहीं। हिंसा-त्यागकी क्रमिक भूमिकायें होती है। देश, काल, विवेक और शक्तिके अनुसार व्यक्ति अहिंसाकी ओर आगे बढ़ता है। वह डग भरते ही पूरा अहिंसक बन बैठे और अपनी सब अनिवार्य प्रवृत्तियोंको धर्म मानने लगजाय, यह निरा मन फुसलाने जैसा है। अहिंसाका विकास होते-होते रही सही हिंसासे बचनेकी भी क्षमता आ जाती है। यह शुद्ध विवेकसे बनता है। पहले चरणमें ही भूल हो, अनिवार्य हिंसाको अहिंसा धर्म माननेकी धारणा बन जाय, उस स्थितिमे आगे बढ़नेकी आशा नहीं की जा सकती। क्रमिक-विकासका मार्ग महात्मा गांधीके शब्दोंमें देखिये—"खेती इत्यादि आवश्यक कर्म शरीर-व्यापारकी तरह अनिवार्य हिंसा है। उसका हिंसापन चला नहीं जाता है और मनुष्य ज्ञान, भक्ति आदिके द्वारा अन्तमें अनिवार्य दोषोंसे मोक्ष प्राप्त कर, इस हिंसासे भी मुक्त हो जाता है।" (अहिंसा भाग १ पृष्ठ ३५-३६)

मनुस्मृति आदिमे समाज-कर्तव्योंकी मीमासा करते हुये हिंसागर्भित प्रवृत्तियोंको भी धर्म बतलाया है किन्तु वह समाजकी व्यवस्थाका धर्म है, मोक्षकी साधनाका नहीं। इसलिये लोकमान्य तिलकने धर्मको लोक-धर्म और मोक्ष-धर्म—इन दो भागोंसे विभक्त किया। (गीता रहस्य पृष्ठ ६४-६६)।

आततायीको मारना भी धर्म है, लड़ाई लड़ना भी धर्म है,

युद्धमें मरनेवाला स्वर्ग जाता है, मच्छर, टिड्डी, बन्दर और चूहोंको मार डालना भी धर्म है, हिंस्र और विषैले जीव-जन्तुओंको मार डालना भी धर्म है, एक शब्दमे मनुष्यकी रक्षाके लिये जितनी आवश्यकतायें हैं, वे सब धर्म है—ऐसा समाज-शास्त्रोंमे कहागया है और कहाजाता है। अहिंसा-धर्मकी दृष्टिमें ये सब धर्म नहीं माने जाते। अहिंसाका हिंसाके साथ समझौता कैसे हो सकता है?

अहिंसाका स्वरूप बताते समय हम कहें—प्राणीमात्रके प्रति समभाव, और अपनी कमजोरीके सामने झुककर कहें—मनुष्यकी रक्षाके लिये होनेवाली हिंसा भी अहिंसा-धर्म—यह अहिंसा-धर्म है या शक्तिशाली वर्गके हितोंका सुरक्षा-व्यूह? समाजकी गति यद्यपि अहिंसाकी दिशामे ही होनी चाहिये फिर भी उसका रास्ता हिंसा और अहिंसाके बीचका होता है। पूरा हिंसक बनने पर समाज नष्ट हो जाता है। पूरा अहिंसक बननेकी स्थितिमे वह आ नहीं सकता। इसलिये वह वार्य हिंसाको त्याग देता है और अनिवार्य हिंसा द्वारा अपनी आवश्यकतायें पूरी करता है। कि० ध० मशरूवालासे पूछा गया—"यदि अहिंसा ही धर्म है और हिंसा धर्म नहीं, तो खाना-पीना किसलिये? मर ही क्यों नहीं जाना चाहिये?" उन्होंने उत्तर दिया—यदि किसीके चित्तमें अहिंसा इतनी एकरस हो जाय तो देह रखनेके प्रति उदासीनता आय और वह उसे छोड देना चाहे, यह अशक्य नहीं। पर ऐसा सामान्य तौरपर मनसे

होता नहीं, कारण कि जहां जीवनमें कुछ करनेकी, प्राप्त करनेकी और जाननेकी आशा और इच्छा रहती है, तबतक देहको टिकाये रखनेकी इच्छा भी काम करती है। अर्थात् तबतक धार्मिक पुरुष भी हिंसा और अहिंसाके बीच मर्यादा बाधकर संन्तोष मानता है, पूर्ण रूपसे अहिंसाका पालन नहीं कर सकता।"

(गुजराती 'अहिंसा विवेचन' कि० घ० मशरूवाला पृष्ठ १३ )

व्यवहारमें आरोप और उपचारकी प्रधानता होती है इसलिये कहीं-कहीं अल्प-हिंसाकी प्रवृतियोंको अहिंसात्मक कह दिया जाता है किन्तु 'वह वस्तुस्थिति नहीं है। तत्त्व-निर्णयके समय हमे अल्प-हिंसा' और अहिंसा-धर्मको सर्वथा भिन्न स्वीकार करना ही होगा।

## ५ : अहिंसा धर्मका अर्थ मनुष्यको बचानेके लिये दूसरोंकी हिंसा करना नहीं :

बडोंके लिये छोटे जीवोंकी हिंसा क्षम्य है—इस निर्णयका आधार मनुष्यकी स्वार्थ-भावना, सामाजिक अपेक्षा है या अहिंसा, प्राणीमात्रके प्रति समभावका सिद्धान्त? समयके अविरल प्रवाहमे दो मनुष्योंमे से एकको बचानेके लिये दूसरेको मारनेका प्रसंग आ सकता है। बड़ोंके लिये गरीबोंका गला घोंटनेकी बात भी बन सकती है। कभी-कभी जनसंख्याकी कमीके लिये बच्चोंको मार डालनेकी बात भी उठ आती है। सामन्तशाहीमे बड़ोंके लिये छोटोंका बलिदान अन्याय नहीं

माना जाता था। मनुष्यके लिये दूसरे जीवोंकी हिंसाको निर्दोष या धर्म माना जाये—यह भी एक प्रकारका सामन्तवादी दृष्टिकोण है। सामन्तवादका अर्थ है—अधिकारवाद। जहाँ व्यक्तिको अधिकारकी तराजूमें सत्ता और शक्तिके बाटोंसे तोला जाता है वहाँ अहिंसा नहीं आती। विकासकी मात्रा मनुष्यकी अपेक्षा मनुष्योतर प्राणियोंमें कम है वैसे ही एक मनुष्यकी अपेक्षा दूसरे मनुष्यमे भी वह कम हो सकती है। बहु-विकसित मनुष्यके लिये अल्प-विकसित मनुष्यकी बलि देने का प्रसंग आ सकता है किन्तु इसके मूल्यांकनके दृष्टिकोणको सामाजिक अपेक्षासे आगे तक नहीं ले जाना चाहिये। उसकी कर्तव्यता पर अहिंसाकी छाप लगानेका प्रयत्न नहीं होना चाहिये।

वर्ण-भेदके आधार पर अफ्रीकाके गोरे कालों पर मनमानी कर रहे हैं। जातिवादके आधार पर दास-प्रथा चलती थी, अस्पृश्यता आज भी चल रही है। इन बुराइयोंके अङ्कुर मनुष्य को आवश्यकतासे अधिक महत्व देनेकी वृत्तिमे से फूट निकलते हैं। फ्रांसके सुप्रसिद्ध प्राणी तत्ववेत्ता जॉन रोस्टेण्डके हाथसे सत्तर हजार मेंढक प्रति वर्ष निकलते है। यह हिंसा मानव-जीवनके गुप्त रहस्योंको जाननेके लिये होती है। बड़ोके लिये छोटोकी हिंसा अनिवार्य हो सकती है किन्तु उसका अहिंसा धर्मके रूपमें समर्थन करनेसे हिंसाको प्रोत्साहन मिलता है, इस पर गहराई से विचार करना चाहिये।

अहिंसाका निर्णय हिंसोन्मुख नहीं हो सकता। उसकी गति हिंसासे बचाव करनेकी दिशामें ही होती है। उसका समग्ररूप है—हिंसामात्र से बचा जाये। यह सम्भव न बने उस स्थिति में जितनी हिंसासे बचा जा सके उतनी से बचा जाये। अहिंसा के श्रोतसे "अल्प हिंसा करो" ऐसा निर्देश नहीं मिल सकता। भगवान् महावीरने हिंसाके दो भाग किये है :—

१—अर्थ हिंसा।

२—अनर्थ हिंसा।

इससे दिशासूचन मिलता है—अनर्थ हिंसासे अवश्य बचो। अर्थ-हिंसासे जिस अंश तक बचना सम्भव हो, बचो। यही बात महात्मा गांधीकी वाणीमे मिलती है—"हिंसा करनेसे जिस अंश तक बचना सम्भव हो उस अंश तक बचना सबका धर्म है।"

(अहिंसा पृष्ठ ५७)

## ६ : मानव समाजकी अनिवार्यताके साथ आध्यात्मिक धर्मका निर्वाह नहीं किया जा सकता :

धर्मका आचरण अधिकांशतया अथवा पूर्णरूपेण मनुष्य ही करता है इसलिये प्रसंगवश धर्मको मानवता या मानव-धर्म कहा जाता है। 'किन्तु मानव' अधिकारोंके लिये प्रयुक्त मानवताके साथ धर्मको जोडकर आदर्शको कुण्ठित नहीं करना चाहिये। जैन-शास्त्रोंके अनुसार कई विकसित पशु भी धर्मका आचरण करते है। उनकी ज्ञान और चरित्रकी मात्रा बहुत सारे मनुष्यों

की अपेक्षा अधिक विकसित होती है। इससे धर्मकी व्यापकता प्रमाणित होती है। मानवता और अहिंसाको सर्वथा एक माननेवालोंकी दृष्टिमें धर्म मानव-सुरक्षाकी ढाल जैसा होता है। जहाँ धर्मका मूल्यांकन देह-मुक्तिके साधनकी दृष्टिसे किया जाता है वहाँ उसकी भूमिका देह-विमुख बन जाती है। देह-विमुखता पहली सीढीमे नहीं आती। देह-विमुखता नहीं आती और उसका ढोंग किया जाता है तब धर्ममें विकार भी आता है। सही अर्थमें देह-विरक्तिकी भूमिकामें पहुंचा हुआ व्यक्ति देह-रक्षासे निरपेक्ष हो जाता है, वह उसकी सहज-मर्यादा बन जाती है, समाज उसे मान्य करे या न करे यह उसकी इच्छा पर निर्भर है।

मिथिला जल रही है। करुण क्रन्दन हो रहा है। उसके अधिपति विदेह जनकसे कहा जाता है—"आप एकबार नगरी की ओर दृष्टि डाल लें तो यह सब शान्त हो जाय।" राजर्षि कहते है—"मैं सुखमें रम रहा हू, मुझसे बाहर मेरा कुछ भी नहीं है। मिथिला जल रही है, उससे मेरा कुछ भी नहीं जलता" विदेह जनक या नमि राजर्षिका यह उत्तर असामाजिक हो सकता है किन्तु फिरभी जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्परा ने उसे बड़े गौरवके साथ लिखा है। (देखिये—उत्तरा० ९।१४, जातक अट्ठकथा, ग्रन्थ ६ फौसवोल ५३९-१२५, 'महाभारत' शाँति पर्व अ० २७६-४)

समाजकी भूमिकामे ऐसा उत्तर निर्दयतापूर्ण माना जा

सकता है किन्तु देह-विरक्तिकी भूमिकामें वही निर्मोह-दशाका प्रतीक माना गया है। भगवान् महावीरने साधुओंके नौका विहारकी मर्यादामें बताया है—साधु नौकामें बैठा है, दूसरे मनुष्य और मनुष्योतर प्राणी भी उसमें है। नावमें छेद हो गया। पानी अन्दर आने लगा। साधुने उसे देखा और किसीने नहीं देखा। फिर भी वह मौन रहे, नाविकको न जताये और न जतानेका मन भी करे। नाविकको पता लगने पर उसे पानी उलीचनेको कहे किन्तु वह वैसा न करे (आचारांग २।३।१)। समाजकी विचारधाराके साथ इसकी संगति नहीं हो सकती।

भगवान् महावीरने अवीतराग-दशामें गोशालकको बचाने के लिये शक्तिका प्रयोग किया और वीतराग-दशामे अपने दो शिष्योंको बचानेके लिये नहीं किया। (भगवती श० १५) इसकी विसंगति भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। भगवानने गोशालकको शिष्य रूपमें स्वीकार किया, उसके वृत्तिकार अभयदेव सूरिने चार कारण वतलाये है :—

१-भगवान् अक्षीण रागी थे।

२-परिचयसे उत्पन्न कुछ स्नेहगर्भ अनुकम्पा उन्हें हुई थी।

३-वे आगामी दोषके अनजान थे।

४-वह अवश्यम्भावी भाव था।

गोशालकको बचाया, उस अंशकी संगति उक्त चार कारणों मे निर्दिष्ट स्नेहगर्भ अनुकम्पाके साथ हो सकती है। दो शिष्योंको नहीं बचाया, उसकी संगति नौका-विहारकी मर्यादा

के साथ होती है। ज्यों-ज्यों वीतरागता बढ़ती है त्यों-त्यों देह-निरपेक्षताकी वृत्ति बढ जाती है।

मुनि और गृहस्थकी भूमिका एक नहीं है इसीलिये भगवान् महावीरने कहा—"आचार कुशल मुनि आचार शिथिल साधुओं को आहार आदि न दे, न देनेके लिये निमन्त्रण दे और न उनकी सेवा भी करे।" (आचारांग ८।१) इस पर टिप्पणी करते हुये मुनि संतबालने लिखा है—"प्रथम तके तो पाठकवे आ सूत्र मा संकुचितता नु दर्शन थशे। जैन दर्शन जो विश्व-दर्शन नी योग्यता धरावतुं होय तो ए दर्शन माटे आटली संकुचितता पण अक्षम्य गणाय, एम पण कदाच जणासे। परन्तु आ सुत्र ने अंगे आटलुं याद राखवानुं छे—(१) ऊपर नी विना मुनि साधक ने उद्देशी ने कहेवायली छे। गृहस्थ साधक अने मुनि साधक मां जेटलो त्याग नो तफावत छे एटलोज नियमो नो तफावत छे अने होवो घटे।"

"गृहस्थ साधक अल्प संयमी अथवा अल्प त्यागी गणाय छे अने मुनि साधक पूर्ण त्यागी गणाय छे, कारणके ऐमणे सर्व पदार्थों पर थी पोतानो मालिकी हक उठावी लेई भिक्षु जीवन स्वीकार्यूं छे। एटलेज मुनि साधक भिक्षा मागीने साधना नी दृष्टिए जरूरियात पुरतु लेई सके छे। (२) ज्या पोतानै माटे जरूरियात पुरतुंज लेई शकाय त्या बीजाने आपवानुं विधान न होई सके ए स्वाभाविक छे। एक भिक्षु बीजा पासे थी लेई बीजा ने आपवा माटे दाता बनतो जाय तो तेमा एनु दातारपणुं के

उदारपणुं नथी, पण वृत्ति नी शिथिलता छे। अने तेनी पोतानी भूमिका नी अपेक्षाए नीचे नुं स्थान छे। दानी थी संयमी नी अने संयमी थी त्यागी नी ए उत्तरोत्तर उच्च भूमिकाओ छे। एक त्यागी आदर्श त्याग पालतो होय, आत्म-ध्यान मा मस्त होय तो ते जगत पर घणोज उपकार करे छे। ए वात स्पष्ट समझाय तेवी छे।"

(आचारांग पृष्ठ २८२-३)

एक बात फिर स्मरण करानी होगी कि उक्त मार्यादाएँ सामाजिक भूमिकाकी नहीं है। उनका निर्माण ही मोह, स्नेह और राग की ईंटोंसे होता हैं। सामाजिक व्यक्ति धर्मको सर्वथा व्यवहार्य मान समाजकी अपेक्षाओंको पूरा नहीं कर सकता। सामाजिक अपेक्षाओंकी पूर्तिके लिये उसे आत्म-धर्मकी उपेक्षा करनी ही पड़ती है। इसीलिये आत्म-धर्मको पूर्णरूपेण सामाजिक नहीं कहा जा सकता। वह समाजकी विकृतियोंका शोधक होनेकी सीमा तक ही समाजिक है। समाजकी सब आवश्यकताओंका वह समर्थन नहीं करता—इस दृष्टिसे वह सामाजिक नहीं है।

लोक-सुखकारक जो कर्म है वे धर्म और लोक-दुःखकारक अधर्म—यह पक्ष नीतिको ही धर्म माननेवालोंका हो सकता है और था। महाभारतके शान्ति पर्व और अनुशासन पर्वमे उसकी चर्चा आती है। श्रुति और स्मृतियोंके बहुतसे विधि-निषेध इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते थे इसलिये कुमारिलने उसका खण्डन किया। ( श्लोक वार्तिक १।१।५।१-२ )श्रौत और

स्मार्त धर्म, जो प्रवृत्ति प्रधान हैं, उसके विधि-निषेध भी सामाजिक धर्मसे पूर्ण संगत नहीं हो सकते तब भला अध्यात्म धर्मकी उसके साथ पूर्ण संगति करनेकी हम कल्पना ही क्यों करें?

नैतिक धर्म जो केवल समाजकी वर्तमान नीति पर आधारित होता है, अध्यात्म-धर्म जिसका आधार बन्धन—मुक्तिका विचार है—इन दोनोंको एक ही दृष्टिसे देखने पर परिणाम वाञ्छनीय नहीं होता। नैतिक-धर्मका साध्य है—समाज धारणा और अध्यात्म-धर्मका साध्य है—शरीरके बन्धनसे मुक्ति। नैतिक धर्मकी मर्यादा है—समाजकी उपयोगिता और अध्यात्म-धर्मकी मर्यादा है—अहिंसा। दोनोंका पृथक्करण किये बिना समस्या सुलझ ही नहीं सकती।

## ७ : अहिंसक अहिंसाका ही मार्ग-दर्शन दे सकता है, हिंसा या हिंसोन्मुख प्रवृत्तियोंका नहीं :

जैन-दृष्टिके अनुसार अल्पतम हिंसा पर निर्भर रहनेका व्रत लेनेवाला साधु नहीं होता। जो सर्व प्रकारकी हिंसासे निवृत्त होता है वही साधु होता है। (दशवै० ४)। प्रमादवश अल्पतम हिंसा होजाने पर वह व्रत भंगके लिये प्रायश्चित करता है। साधुका हिंसा-त्याग पूर्ण होता है। पूर्णकी मर्यादा है—नव कोटिसे संवरण। जैसे—

१-हिंसा न करना—मनसा, वाचा, कर्मणा।

२-हिंसा न कराना—मनसा, वाचा, कर्मणा।

३-हिंसाका अनुमोदन न करना—मनसा, वाचा, कर्मणा।

प्राणोंकी अपेक्षा अहिंसा धर्मके पालनको जो अधिक मूल्यवान माने, निर्जीव पानी न मिलने पर प्राण त्याग कर दे पर सजीव पानी न पीये, वह साधु किसी भी कोटिकी सूक्ष्म या स्थूल हिंसाकी प्रवृत्तिका दायित्व नहीं ले सकता।

यह सही है—साधुको हेय और उपादेय दोनोंका उपदेश देना चाहिये। साधुत्वकी भूमिकामे पहुंचे हुये व्यक्तिके लिये अहिंसा धर्मके सिवाय अन्य कुछ भी उपादेय नहीं होता। उसकी दृष्टिमेहिंसामात्र, असंयम मात्र हेय होता है इसलिये वह हिंसात्मक व असंयमात्मक प्रवृत्तिको उपादेय ही नहीं समझता तब उसका उपदेश कैसे करे? सामाजिक दायित्वके नाते गृहस्थके लिये युद्ध भी उपादेय बनते है। युद्ध टालना सम्भव न रहे, यह स्थिति है। अहिंसाव्रतधारी साधु क्या उसे कर्तव्य बता, उसकी शिक्षा दे? देश-कालके परिवर्तनके साथ-साथ समाजके कर्तव्य ऐसे बनते-बिगड़ते है कि जिनके साथ-साथ अहिंसा-धर्मीके लिये चलना सम्भव नहीं रहता। समाजके परिवर्तनशील नियमोंके साथ अहिंसाकी शाश्वत-परम्पराको जोडनेका आग्रह नहीं होना चाहिये। अन्तर्जातीय विवाह आज प्रगतिका चिन्ह माना जा रहा है। एक समय था उसके लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं था। किसी कारणवश प्रतिबन्ध लगा। वह कर्तव्यसे दो कदम आगे बढ़ कर धर्म बन गया। आज वह संस्कार घुल नहीं रहा है। हिन्दू-कोडविल और अस्पृश्यता-निवारणका

विरोध जो होता है उसका कारण हठाग्रहिता नहीं किन्तु वह समाजकी सामयिक आवश्यकताओंको धर्मका रूप देनेका परिणाम है। सामाजिक कर्तव्योंके निर्देशनकी अपेक्षा समाजके सूत्रधारोंसे की जाये, वही सही रास्ता है। साधु प्रत्येक कर्तव्यको अहिंसाके काटेसे तोलेंगे। वे सामाजिक अपेक्षाओंके लिये अहिंसा-धर्मकी उपेक्षा नहीं कर सकते। एक ही व्यक्तिका नेतृत्व सब दिशाओंमें लेना चाहिये—यह इष्ट नहीं है। नेतृत्वकी अनेक अपेक्षायें होती हैं और अनेक दिशायें। अर्थ-अर्जनके क्षेत्रमें एक अर्थ-शास्त्रीका परामर्श जितना उपयोगी हो सकता है उतना एक साधुका नहीं हो सकता। एक परराष्ट्र मंत्री किसी साधुका अनुयायी हो उसका यह अर्थ नहीं होना चाहिये कि वह परराष्ट्र नीति-निर्धारणका निर्देशन उस धार्मिक गुरुसे ले। इस दिशामें साधुके इशारों पर खेलनेकी अपेक्षा राज्य-सभा या राज्य-परिषद्की अपेक्षा रखना उसके लिये अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण होता है। किसान खेती करते समय कीड़ोंको मारे बिना रह नहीं सकता किन्तु वह इस कर्तव्यका उपदेश साधुसे पाना चाहे, क्या वह उचित होगा ?

जो व्यक्ति जिस क्षेत्रका अधिकारी हो उसी क्षेत्रमें उसके नेतृत्वकी अपेक्षा हो—वही सिद्धान्त तथ्यपूर्ण हो सकता है। इसीलिये महात्मा गाँधीने लिखा है—"हिंसाके मार्गमें किसीका भी नेतृत्व करनेमें मैं असमर्थ हूं। यह तो हर क्षणमें किसान अनुभव करता है कि खेतीके लिये छोटे-छोटे जीवोंका नाश

करना अनिवार्य है। इसके आगे आकर इस वस्तुको ले जाना मेरी शक्तिके बाहरकी बात है।" (अहिंसा पृष्ठ ५०-५७)

अहिंसक द्वारा कर्तव्यके बारेमें अनावश्यक हिंसाके त्यागका निर्देश स्वतः प्राप्त है। किन्तु आवश्यक हिंसाकी विधि प्राप्त नहीं हो सकती। जीवनका समग्र आचरण अहिंसापूर्ण होना चाहिये—यह भावना है और आदर्श है। किन्तु सभी भूमिकाके लोग इस तक पहुंच पाते है, यह तो नहीं माना जा सकता। अल्प हिंसाकी भूमिकामे रहनेवाला गृहस्थ पूर्ण हिंसाको नहीं त्यागता इसलिये उसका समूचा कर्तव्य विभाग अहिंसात्मक नहीं होता। हिंसाका अर्थ केवल मारना, इतना ही नहीं है। हिंसाकी अविरति भी हिंसा है अर्थात् हिंसाके त्यागका संकल्प नहीं किया, वह भी हिंसा है। परिग्रहका संग्रह भी हिंसा है। उसकी अर्जन-पद्धति भी हिंसा है। अब्रह्मचर्य भी हिंसा है। इनकी शिक्षा समाज-शास्त्रके आचार्य देते है। विद्यालयोंमे लड़नेकी शिक्षा मिलती है, काम-शास्त्रकी, व्यापारकी, और भी नानाविध प्रवृत्तियोंकी शिक्षा मिलती है, ब्रह्मचर्य जैसे कर्तव्य है वैसे विवाह करना क्या सामाजिक व्यक्तिका कर्तव्य नहीं होता? कर्तव्यके पीछे दृष्टिया दो हो सकती है—एक आत्म-साधनाकी दूसरी समाज-व्यवस्थाकी। आत्म-साधनाकी दृष्टिसे ब्रह्मचर्य कर्तव्य है, विवाह कर्तव्य नहीं दूसरी दृष्टिसे विवाह भी कर्तव्य है। उसकी शिक्षा समाजके मुखियों द्वारा मिलती है। अहिंसकके सामने अपनी मार्यादायें

होती है। इसीलिये भगवान महावीरने हिंसात्मक कर्तव्यका उपदेश करनेवाले साधुको गृहस्थोंके तुल्य कहा है (सूत्र० १।१।४।१)

गृहस्थ धर्म-साधनाके लिये साधुवर्गका अनुगमन करते हैं। सामाजिक प्रवृत्तियोंके लिये वे उनका अनुगमन कब करते है ? और आगे क्यों जायें, मूलको पकडिये, गृहवास भी साधु-सम्मत नहीं है। गृहस्थ अपनी दुर्वलताओंको जानते है इसलिये उसमें रस लेते है। अपनी भूमिकाको जानते है इसलिये अपना दायित्व निभाते है। आपसी सहयोग[९] समाजकी नींव है। उसीका विकसित रूप सेवा है। सामाजिक व्यक्ति इसकी अपेक्षा कर ही नहीं सकता। दो व्यक्तियोंके धर्म दो हो सकते है किन्तु समाजके धारक सामान्य नियम दो नहीं हो सकते। धर्म व्यक्तिकी अपनी विशुद्धि होती है। उसके साथ समाजकी सामान्य अपेक्षाओको जोडनेका परिणाम अभीष्ट नहीं होता।

## ८ : अहिंसाके मूलमें प्रेम या मैत्री है किंतु प्रेम मात्र अहिंसा नहीं :

परोपकार, समाज सेवा, दया-दान ये प्रवृत्तियां अहिंसासे उपजती हैं, इसमें किसका विवाद है। विवादका विपय है— इनकी उपजका अहिंसाके साथ अमर्यादित सम्बन्ध। बहुत सारे प्रसंगोंमे परोपकार और दयाके लिये हिंसा भी करनी पडती है। उन प्रवृत्तियोंको अहिंसाकी उपज माना जाये, वह समझमें नहीं आता। एक ओर हम दृष्टिको विशाल बनाकर भूत मात्र विपयक मैत्रीकी भावनामेसे अहिंसाके प्रगट होनेकी

बात कहें, दूसरी ओर अहिंसाको समाज सेवाके संकुचित दायरेमें बांधकर मनुष्यकी सेवाके लिये मनुष्योतर प्राणियोंकी हिंसाको धर्म माननेका सिद्धान्त बना लें—यह कैसा खयाल है ? अहिंसाके मूलमें जो प्रेम-धर्म रहा हुआ है वह क्या सिर्फ मनुष्य समाजके लिये ही है ? यदि है तो अहिंसाको मनुष्य समाजकी उपयोगितासे आगे क्यों ले जाया जाये और यदि ऐसा नहीं है तो उसे मर्यादित क्यों रखा जाये ? अहिंसाके सूक्ष्म विचारमे हिंसा त्याग न करनेवाला व्यक्ति हिंसा न करते हुये भी हिंसक है। हिंसाकी दुष्प्रवृत्ति और उसकी अनिवृत्ति ये दोनों असंयम है। असंयममय प्रवृत्ति धर्म नहीं हो सकती। इसलिये अहिंसाकी मर्यादा होनी चाहिये कि संयममय प्रेम, दया, दान ही अहिंसात्मक हैं, सबके सब नहीं।

## ९ : अहिंसाकी उपासनाका आधार समाज व्यवस्था नहीं किन्तु आत्म-शोधन होना चाहिये :

अहिंसाकी उपासनाके पहले हमे उसका लक्ष्य स्थिर करना चाहिये। वह ( अहिंसा ) असामाजिक वृत्तिको मिटानेके लिये है या शरीर-मुक्ति, कर्म-मुक्ति या बन्धन-मुक्तिके लिये। आध्यात्मिक दृष्टिके अनुसार अहिंसाकी उपासनाका लक्ष्य शरीर-मुक्ति है। अहिंसा शरीर-मुक्तिका साधन है इसलिये वह धर्म है। अध्यात्मके क्षेत्रमें शरीर-मुक्तिके असाधनको धर्म नहीं माना जाता। धर्म एक अर्थमे असामाजिक भी है। इसीलिये वह समाजको एक हद तक मान्य है, पूर्णतया नहीं। धर्मके सूक्ष्म

विचारकी समाजकी वर्तमान धारणाओंके साथ संगति नहीं है। यहीं उलझन पैदा होती है। भूमिका-भेदको समझे बिना वह मिट भी नहीं सकती। वेदान्तकी भाषामे ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है। समाज ऐसी भाषामे नहीं बोलता। दोनोंकी भाषा अपनी-अपनी भूमिका पर आधारित होती है यह समझलें, कोई समस्या नहीं। इसको समझे बिना बडा असामञ्जस्य लगता है। लगभग सभी धर्मोंमें वैराग्यकी गाथायें आती है, अकेलेपनकी और आत्मा और शरीरके भिन्न होनेकी भावना धार्मिक आधारके रूपमें व्यक्तिको दी जाती है। जैन दृष्टि बारह भावनाओंमे एकत्व और अन्यत्व भावनाको बडा भारी महत्त्व देती है। भगवान् महावीर जगह-जगह कहते है—"न तेरा पिता है, न तेरी माता, आखिर शरीर भी तेरा नहीं है।" यह भावना सामाजिक तो नहीं है किन्तु मोक्ष धर्म मूलतः सामाजिक है ही नहीं। तब उससे सब सामाजिक धारणाओंके समर्थनकी आशा क्यों कीज ाये ? मैत्री भावनाका पूर्ण विकास आत्म-शोधनकी भित्ति पर ही हो सकता है, प्राणी-विशेष या वर्ग विशेषके स्वार्थोंकी पूर्तिके आधार पर नहीं।

आत्म-साधकका प्रेम विराट् होता है। वह सूक्ष्म जीवोंके प्रति भी उतना ही सजग रहता है जितना बड़े जीवोंके प्रति। उसकी करुणा अहिंसात्मक होती है इसीलिये वह व्यापक होती है। सामाजिक व्यक्ति छोटे जीवोंकी उपेक्षा कर देते हैं, उनकी स्वार्थ-बुद्धि वस्तुस्थिति पर पर्दा डाल देती है। उनकी करुणा

स्वार्थ निर्भर होती है, अहिंसाश्रित नहीं। छोटे जीव अपनी वेदनाको व्यक्त नहीं कर सकते, इसीलिये उन पर, यथेष्ट प्रहार किया जाता है।

भगवान् महावीरकी वाणीमें सूक्ष्म जीवोंकी वेदनाका करुण चित्र मिलता ही है। अब विज्ञानके आलोकमे भी वह दृष्टि-गोचर होने लगा है। एल्डुअस हक्सलेकी यात्रा-डायरीके कुछ प्रसंग बड़े ही विरल हैं। वे लिखते है—"किसी पशु-पक्षीकी मृत्युका दृश्य देख हम पिघल जाते हैं, करुणासे द्रवित हो जाते हैं, क्योंकि हम उस यन्त्रणाको अपनी आखों देखते है। वनस्पतियोंके जीवन-मरणको देखनेके लिये हमारी दृष्टि लाखों गुणी तेज होनी चाहिये। वसु महाशयके यन्त्र हम लोगोंको सूक्ष्मतम खूबियोंके साथ वे सारी चीजें दिखा सकते है जो शक्तिशालीसे शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक नहीं दिखा सकता। एक फूल जब जहर खाकर छटपटाकर हमारे सामने मरा, हम उसी तरह करुणा से मर गये, जैसे किसी प्रियजनकी मृत्यु देखकर हो जाते हैं। यह एक अपूर्व अनुभूति थी जिससे हम आज तक अपरिचित थे। बहुतसे प्रबुद्ध व्यक्तियोंको मैंने कसाईखानेमें कत्ल किये जाते हुये पशुकी यन्त्रणा और छटपटाहट देख द्रवित होते तथा पूर्ण मांस भोजीसे पूर्ण निरामिष बनते देखा है। यदि वे अपने आहारमें और भी कमी करना चाहें तो उन्हें वसु-विज्ञान-मन्दिरमें जाकर देखना चाहिये। तब कदाचित् शाकाहार भी छोड़ने पर मजबूर हो जाँय और सिर्फ धातुओं पर ही रहने लगें।"

( 'नवनीत' दिसम्बर १९५४ )

## १० : व्रतों की कल्पना केवल समाज धारणके लिये नहीं है :

व्रतोंका उपयोग केवल समाजकी सुव्यवस्था तक ही नहीं, उससे भी बहुत आगे है। उनकी कल्पना केवल समाज के धारण, पोषण और संवर्धनके लिये ही हो तो अहिंसाको मुख्य धर्म माननेका कोई कारण नहीं रहता। समाजके लिए उपयोगी अहिंसा जैसे धर्म या व्रत है वैसे ही उसके लिये उपयोगी हिंसा भी [ कमसे कम वर्तमान स्थितिमें ] एक व्रत होना चाहिये। इसी प्रकार उपयोगी असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह— ये भी व्रत होने चाहियें। समाजके लिये इनकी उपयोगिता नहीं ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जिनके लिये समाज ही पूर्ण सत्य हो उन्हें धर्मके अस्तित्वको—पारलौकिक या आध्यात्मिक धर्मके अस्तित्वको—अस्वीकार करना चाहिये। ऐसा किये विना वे समाज और धर्म दोनोंका भला नहीं कर सकते। रशियाका विकास धर्मकी दुहाईके साथ नहीं हुआ है। इंगलैंडकी व्यावहारिक सच्चाई धर्मकी शरणमें नहीं पनपी है। भारतमें धर्मकी सैकड़ों उपासना विधियों और दुहाइयोंके होने पर भी परले शिरेकी बुराइयां चल रही हैं। धर्मको कोई माने या न माने, समाजकी सामान्य अपेक्षायें पूरी करना—यह सबके लिये आवश्यकताओंके साथ धर्मको जोड़नेके परिणाम स्वरूप दया और दानके विकृत रूप चल रहे हैं। समाजकी

स्वस्थ-व्यवस्थामें दया और दानका ऐसा रूप नहीं होना चाहिये जैसा कि आज भारतीय मानसमें जड़ें जमाये वैठा है। अपने सामाजिक वन्धुओंको दयनीय वनाये रखकर दया पालने और दीन बनाये रखकर दान देनेकी मनोवृत्ति समाजको हीन बनाने वाली है। स्वस्थ-समाजमें आपसी सहयोग, जो समाज रचनाकी आधार-शिला है, के लिये ऐसे हीन मनोवृत्तिके सूचक प्रश्न ही नहीं उठते। अध्यात्म-धर्म और समाजके एकीकरणसे इन दोनोंकी मौलिकता नष्ट हो जाती है।

## ११ : पुण्य-पापकी व्याख्या तेरापंथकी कोई नई नहीं है :

जैन-विचार धर्म और पुण्यको एक नहीं मानता। धर्म उपादेय है, आत्म-शुद्धिका साधन है, उस दशामे धर्मका प्रासंगिक परिणाम पुण्य हेय है, आत्माका वन्धन है। प्रवृत्तिके दो भेद लौकिक और आत्मिक जो होते है उनका आधार समाज और व्यक्ति नहीं है। समाजके लिए जो प्रवृत्ति हो वह लौकिक और अपने लिए हो वह आत्मिक ऐसा नहीं है। यह भेद सख्या पर आधारित न होकर संयम पर आधारित है। समाजके लिए बहुतोंके लिए संयममय प्रवृत्तिकी जाय, वह भी आत्मिक है। वैसी प्रवृत्ति एक के लिए या अपने लियेकी जाय, वह भी आत्मिक है। असंयममय प्रवृत्ति चाहे अपने लिए हो, चाहे सबोंके लिए, वह आत्मिक नहीं हो सकती। वैसी प्रवृत्ति

का आधार मोक्ष, आत्म-शोधन या धर्म नहीं हो सकता। उसका दूसरा आधार समाज-व्यवस्थाके संस्कार ही रहते हैं। इसलिए उसे सामाजिक या लौकिक कहा जाता है। किसी भी प्रवृत्तिके पीछे संस्कार-बल होना चाहिए। जिस प्रवृत्तिके लिए आत्म-शोधनके संस्कार प्रोत्साहन नहीं देते वे प्रवृत्तिया भी होती हैं और इसलिए होती है कि व्यक्तिमे इनके अतिरिक्त समाज-व्यवस्थाके संस्कार भी होते है। आत्मवादीके सामने स्वार्थ और परार्थसे आगे तीसरी परमार्थकी भूमिका और होती है। जो परार्थ हो वही आत्मिक—ऐसा नियम नहीं बन सकता। परमार्थकी भूमिकामे स्व और परका प्रश्न मुख्य नहीं होता। वहा मुख्यताकी कसौटी है—संयम, वही परमार्थ है।

## १२ : कर्मके गुण-दोषका आधार केवल मानसिक भावना ही नहीं है। मनकी शुद्धि और अशुद्धिकी कसौटी एक नहीं, उसकी भिन्न-भिन्न अपेक्षायें हैं :

धनके आवश्यक संग्रहकी वृत्ति समाज व्यवस्थाकी दृष्टिसे निर्दोष है। मोक्ष-धर्मकी दृष्टिसे वह निर्दोष नहीं। समाज-व्यवस्थाकी दृष्टि भी एक नहीं होती। गैर-साम्यवादी व्यवस्था मे वैयक्तिक सम्पत्ति निर्दोष मानी जाती है, साम्यवादी व्यवस्था में वह वैसे नहीं मानी जाती। समाज दृष्टिमे अर्थ-संग्रहकी मानसिक वृत्ति अशुद्ध नहीं, आध्यात्म-दृष्टिमे वह अशुद्ध है।

लोक-कल्याण भी इसी विन्दु पर आता है। उसके भी भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंके अनुरूप भिन्न-भिन्न रूप बन जाते है। लोक कल्याणके लिये महापुरुपोंकी संयत प्रवृत्तियां होती है, वे ही धर्ममय है। उनका निमित्त पाकर चलनेवाली सभी प्रवृत्तियां धर्ममय होती हैं—ऐसा नहीं होता। व्यक्तिका सम्बन्ध अनन्तर प्रवृत्तियोंसे ही जुडता है। साधकतम प्रवृत्ति ही साधन बनती है, प्रवृत्ति मात्र नहीं। हर प्रवृत्तिका दायित्व नहीं लिया जा सकता वैसे ही अनन्तर प्रवृत्तिके परिणामसे आंखें नहीं मूदी जा सकतीं। जिनकी दृष्टिमे प्रवृत्तिकी शुद्धि और अशुद्धिका मानदंड अहिंसा और हिंसा न होवे, हिंसागर्भित आवश्यक प्रवृत्तियों को निर्दोष या धर्ममय माने वह चल सकता है। जो व्यक्ति धर्मको केवल आत्म-शुद्धिके लिये स्वीकार करते है और उसे अहिंसामय मानते है, उनके लिये प्रवृत्तिकी शुद्धिका मानदण्ड अहिंसाके सिवाय दूसरा कैसे हो सकता है ?

### १३ : अहिंसा सामूहिक जीवनमें, समूहके प्रति बरती जा सकती है फिर भी उसकी साधना वैयक्तिक होगी :

अहिंसा अपनी साधना है। इस अर्थमे वह वैयक्तिक है। जिस व्यक्तिमे अहिंसाका जितना विकास होता है वह दूसरोके प्रति उतना ही संयमशील बनता जाता है इस अर्थमें अहिंसा सामाजिक है। महात्मा गांधीने इस दिशाको राजनीतिके क्षेत्र

मे विकसित किया, उसके मुख्य अंग तीन है—असहयोग, सविनय भंग और सत्याग्रह। अहिंसात्मकताकी सीमा तक ये तीनों प्रकार अहिंसकको मान्य हो सकते है। उनके अविवेकपूर्ण प्रयोगको स्वयं महात्मा गांधी भी हिंसा कहते थे। समाजकी व्यवस्था अहिंसोन्मुख होने पर अहिंसाके पालन मे सुलभता हो सकती है, इसमे कौन दो मत हो सकता है?

## १४ : भाव-अहिंसा बच्चोंका खिलौना नहीं।

### हर जगह हिंसाके लिये मन-शुद्धिकी दुहाई नहीं दी जा सकती :

हिंसाका पूर्ण संयम करनेवाले संयमीके द्वारा अपरिहार्य कोटिका प्राण-वध हो जाये, वहाका नियम सर्व सामान्य नहीं बन सकता। राग-द्वेषमें फसे व्यक्ति अपनी या दूसरोंकी सुख-सुविधाके लिये मच्छर मारते है या मरवाते है, इसे भाव-अहिंसा माना जाये तब हिंसा फिर क्या होगी? संयमी अपनी या दूसरोंकी सुविधाके लिये जीवको मारे, वह भाव अहिंसा नहीं हो सकती। संयममय प्रवृत्ति करते हुए अपरिहार्यतया कोई जीव मर जाये, वहा भाव-अहिंसा है। हिंस्र जन्तुओंको मारने और अनिवार्य गोली वार करने या उसके आदेशकी प्रवृत्तिको हिंसा न माना जाय तो कम्युनिष्टोंको हिंसक कहनेका क्या अर्थ हो सकता है? क्या वे किन्हींको मारनेके लिये ही मारते है? वे हिंसाको अपना साध्य नहीं बतलाते, समाजकी

भलाईके साधन रूपमें उसका प्रयोग करते है। समाज विरोधी तत्त्वोंको मिटानेके लिये हिंसा बरतनेकी अपेक्षा हो, वहा वे उसे आदेय मानते हैं। समाजकी भलाईको ही मुख्य मानकर उसी का स्वतन्त्र रूपसे विचार करनेवाले साम्यवादी उन अहिंसा-वादियोंसे अधिक स्पष्ट है जो समाजकी भलाईके लिये अपेक्षित हिंसाको अहिंसाके सांचेमें डालनेका प्रयत्न करते है।

तेरापन्थके अहिंसा विषयक दृष्टि बिन्दुकी आलोचना करते हुए जो उदाहरण रखे जाते है, वे व्यवहारसे इतने जुड़े हुए है कि उनकी करुणात्मकता लोगोंको भ्रममें डाल सकती है। उससे भूमिकाभेद स्पष्ट नहीं होता। सहयोग और संवेदनाकी नींव पर निर्मित समाज-व्यवस्था और देह-मुक्तिके सिद्धान्त पर आधा-रित अहिंसाका जो भूमिका-भेद और दिशा-भेद है उसे समझे विना वह भ्रम मिटे भी कैसे ? समाजकी मान्यता केवल उसकी उपयोगिता पर निर्भर है, अहिंसा पर नहीं। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। बिल्ली चूहेको मार रही है उसे व्यक्ति देखे और हस्तक्षेप न करे तो वह हिंसक। खेतीकी रक्षा के लिये चूहोंको मारे, वह हिंसक नहीं। यह क्या है ? उपयो-गितावाद है या अहिंसावाद ? दयनीय दशा देखकर करुणा या संवेदना उत्पन्न हो सकती है किन्तु वह अहिंसा ही हो, ऐसा नहीं बनता।

हरिश्चन्द्र सत्यकी रक्षाके लिये अपने पुत्र और पत्नीकी उपेक्षा करते है वह आदर्श माना जाता है। शुद्ध सामाजिक दृष्टिसे

देखा जाय तो उन्होंने अपनी पत्नी और पुत्रके साथ न्याय नहीं किया। इसपर भी धार्मिक जगत्‌मे उनकी महिमा गाई जाती है, उसका आधार क्या है ? सत्य-निष्ठा या सामाजिक उपेक्षा ? एक ओर कोई व्यक्ति चोर-बाजारीसे कुछ भी नहीं खरीदता। दूसरी ओर उसका लडका बीमार है—वह क्या करे ? चोर बाजारीसे इंजेक्शन न खरीदे, वह लडकेकी उपेक्षा है और खरीदे तो सत्यकी हत्या है। सामाजिक दृष्टिसे आपद्-कालमें ब्लैकसे दवा खरीद लेना सत्य पर अटल रहनेकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान हो सकता है। धर्मकी दृष्टि दूसरी है। वह किसी भी स्थितिमे सत्य-निष्ठाको ही मूल्यवान मानता है। करुणाकी पूर्ति सामाजिक नियमोंके अनुसार चलनेसे अधिक हो सकती है। सामाजिक व्यक्ति उनकी उपेक्षा कर चल भी नहीं सकते। किन्तु इस सामाजिक अपेक्षाको अहिंसा नहीं बनाया जा सकता।

## १५ : शारीरिक साता और आत्मिक साता, लोक धर्म और आत्म धर्म, ये भेद कृत्रिम नहीं। इनके पीछे मौलिक तथ्य हैं :

सुख और धर्मके स्वरूपकी दो दृष्टिया है—लौकिक और आध्यात्मिक। पहलीका आधार समाज-व्यवस्था और स्थूल व्यवहार है, दूसरीका आधार मोक्ष-साधना। पहलीके अनुसार सुखका अर्थ है—"तृप्तिकी अनुभूति"। धर्मका अर्थ है—समाज धारणाके नियम, जैसाकि महर्षि व्यासने लिखा है "लोक

यात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृत" ( महाभारत शान्ति पर्व २५९।४ ) लोक व्यवहार चले इसलिये धर्मका नियम किया गया है। बृहस्पतिने धर्म-विद्याको स्वतन्त्र क्यों नहीं गिना ? कौटिल्य अर्थ शास्त्रमें इसका कारण बतलाया है कि लोकयात्राके तत्व ज्ञानका विचार करनेवालोंकी दृष्टिमे धार्मिक आचार लोगोंको सन्मार्गमे लगाये रखनेकी युक्ति मात्र है। उसमे पारलौकिक तथ्य कुछ नहीं है। आध्यात्मिक दृष्टिके अनुसार सुखका अर्थ है—कर्म निर्जरा या वासना क्षय, धर्मका अर्थ है—आत्माकी राग-द्वेष रहित परिणति। पहला विचार नितान्त ऐहिक है और दूसरा विचार नितान्त आत्मिक। पौद्गलिक सुख-सुविधाकी दृष्टिसे धर्म न ऐहिक है और न पारलौकिक। आत्मशुद्धिकी दृष्टिसे वह ऐहिक भी है और पारलौकिक भी है। वास्तवमे आत्माकी शुद्ध दशा ही धर्म है इसलिये उसे ऐहिक या पारलौकिक कहनेकी अपेक्षा आत्मिक कहना ही अधिक उपयुक्त है।

अब दोनोंकी दिशाओंको मिलाइये—परिणाम और कर्तव्य पद्धतिकी परीक्षा कीजिये, पता चल जायेगा, कितनी संगति होती है और कितनी विसंगति। समाजके क्षेत्रमें , वासनाक्षय एकान्तया अभीष्ट नहीं है। एक सीमा तक वासना-पूर्तिको कर्तव्य माना जाता है। आयुर्वेदीय शास्त्रोमे वासनाको उत्तेजित करनेके उपाय बतलाये गये है। मोक्ष-शास्त्रमें वासनाका अंश भी अवाञ्छनीय है, बन्धन मुक्तिका बाधक है। उसे क्षीण करनेके लिये उपवास जैसी कठोर साधनायें हैं। 'यह

तृप्ति करनेका प्रयत्न नहीं किन्तु अतृप्तिकी विजयका प्रयत्न है। क्षणिक तृप्तिके बाद फिर अतृप्ति आये यह अतृप्तिकी परम्पराका ही निर्वाह है। अतृप्तिका मूल नाश सुख है और उसका साधन धर्म—मोक्ष शास्त्रका यही सार है। लौकिक दृष्टिमे मोह, स्नेह, राग आदिको प्रोत्साहित किया जाता है। अध्यात्म दृष्टिमे इन्हें पाप या अधर्मका मूल बताकर वीतराग बननेकी प्रेरणा दी जाती है। पहलीका स्वर है—ऐहिक विकास करो। दूसरीका स्वर भगवान् महावीरकी वाणीमे सुनिये—इह लोककी सुख-सुविधाओंके लिये धर्म मत करो, पारलौकिक सुख-सुविधाओंके लिये धर्म मत करो, पूजा प्रतिष्ठाके लिये धर्म मत करो, केवल आत्म-शुद्धिके लिये धर्म करो ( दशवै० ९।४ )। दोनों दृष्टियोंके मौलिक भेदके कारण उनके फलित स्वयं दो हो जाते हैं इसलिये उक्त दो भेदकी परम्पराको काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। शरीर और आत्माको अलग बाटनेकी बात निरा भ्रम है। शरीर जड है। आत्मासे अलग होकर वह सुखकी अनुभूति क्या करे? अनुभूति चेतनाका धर्म है। चेतनयुक्त शरीरको ही वैसी अनुभूति होती है। शारीरिक और आत्मिक साताका अर्थ है—जिससे केवल तृप्ति मात्र मिले, आत्माका संयम न बढे वह शारीरिक साता है और आत्मिक साता है—आत्माकी शुद्धि। तेरापन्थके लिये कहा जाता है—उसने साताको दो भागोंमें बाट दिया, धर्मके लौकिक और पारलौकिक ऐसे दो भेद कर डाले, उसकी दृष्टिमे सब जीव सामान है आदि २। किन्तु

ऐसा कहनेवाले परम्पराके साथ न्याय नहीं करते। द्रव्य-समाधि और भाव-समाधि, व्यवहार-धर्म और आत्म-धर्म या परमार्थ धर्म—ये भेद आगम साहित्य और टीका व ग्रन्थोंमें सैंकडों जगह मिलते हैं। श्रीमद् रायचन्द और महात्मा गांधीके बीच हुये प्रश्नोत्तरमें उन भेदोंकी वास्तविकता देखिये। महात्मा गांधीने पूछा था कि सर्प काटनेको आवेतो उस समय हमें स्थिर रहकर उसे काटने देना उचित है या मार डालना? श्रीमद् रायचन्द्रने उत्तर दिया था कि—इस प्रश्नका मैं यह उत्तर दूं कि "सर्पको काटने दो" तो वडी कठिन समस्या आकर उपस्थित होती है, तथापि तुमने जव यह समझा है कि 'शरीर अनित्य है' तो फिर इस असार-शरीरकी रक्षार्थ उसे मारना क्यों कर उचित हो सकता है जिसको शरीरमे प्रीति है—मोह बुद्धि है। जो आत्म हितके इच्छुक हैं उन्हें तो यही उचित है कि शरीरसे मोह न कर उसे सर्पके अधीन कर दें। अव तुम यह पूछोगे कि जिसे आत्म-हित न करना हो उसे क्या करना चाहिये? तो उसके लिये यही उत्तर है कि उसे नरकादि कुगतियोंमे परिभ्रमण करना चाहिये; उसे यह उपदेश कैसे किया जा सकता है कि वह सर्प को मार डाले? अनार्य वृत्तिके द्वारा सर्पके मारनेका उपदेश किया जाता है पर हमें तो यही इच्छा करनी चाहिये कि ऐसी वृत्ति स्वप्नमे भी न हो।" ('आत्मसिद्धि' स० १९७५ की आवृति पृ० ११० )

भगवान महावीरने अनेकों जगह सव जीवोंको समान

समझ, सबके प्रति संयम रखनेकी बात कही है। आचारांगका पहला अध्याय पढ़ जाइये उनकी अहिंसाका सूक्ष्म रूप सामने आ जायेगा। वह आत्म साधकके-लिये निर्दिष्ट है, इसलिये पूराका पूरा सामाजिक नहीं हो सकता फिरभी वस्तुस्थितिको नजरन्दाज नहीं किया जा सकता है।

भगवान कहते हैं—"कोई वन्दन मानके सत्कार माटे अथवा जीवन माटे, कर्म वन्धननी मुक्ति माटे के शारीरिक तथा मानसिक दुख ना निवारणने माटे ( धर्म निमित्ते ) स्वयं अग्निनो समारम्भ ( हिंसा ) करे छे, वीजाओ द्वारा करावे छे के करनार ने अनुमोदन आपे छे तो ते वस्तु तेना हितने बदले हानिकर्ता अने ज्ञानने बदले अज्ञानजनक नीवड़े छे।" ( आचारांग सूत्र ( गुजराती ) अनु० मुनि सन्तबालजी पृष्ठ २३ )

नोंध—श्रमण भगवान महावीर ना संयम मा केटलाक साधुओ पोताने साधुओ तरीके ओलखावता हता अने आरम्भ ना कार्यों जाते करता हता, करावता हता अथवा तेवा कार्यो मा रस लेवता हता वलि धर्म निमित्ते थयेली हिंसा ए हिंसा नथी, एम पण प्रजाने समझाववानों प्रयत्न करता हता। ऊपर ना कथन मा ए समझाववामा आव्यु छे के हिंसा ए हिंसाज छे अने ते धर्म निमित्ते पण क्षम्य न होई शके। जेओ पोताने धर्मिष्ट कहेवामे आवे छे तेना पर तेटलोज अहिंसक रवानो वोझो वधे छे। आथी तेनो जीवन खूब संयमी होवुं जोइये अने पोतानी जीवन क्रिया मा सूक्ष्म जीवो तरफ पण प्रतिक्षणे उप-

योगमय रहवुं जोइये—( आचारांग सूत्र, ( गुजराती ) अनुवादक मुनि सतबालजी पृष्ठ ११ )

इसी प्रकार शेष पांच प्रकारके जीवोंके लिये कहा गया है—"शिष्य ! जो इन छै कायोंमेंसे एकभी कायका आरम्भ करता है वह छैं कायोंका आरम्भ करनेवाला है ऐसा समझ।" (आचारांग १।१।७: ६२ पृष्ठ ८४ अनुवादक पं० सौभाग्यमलजी महाराज )

प्राणी मात्रके प्रति समभावकी वृत्ति विराट्-प्रेमका निदर्शन है। मनुष्य-प्रेमको ही सर्वोपरि धर्म माननेवाले उसका मूल्य नहीं आक सकते। इसीलिये साम्यवादियोंको कहना पडा—धर्म सत्ताधारी या शक्तिशाली वर्गके हितोंका रक्षा-कवच है। छोटे जीवोंकी हिंसा उनके अधिकारोंका हनन है। भगवान महावीरने उसे चोरी कहा है। वृत्तिकारने उसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"अप्कायके जन्तुओंने जो शरीर धारण कर रखे हैं उन शरीरोंको, उनकी आज्ञाके बिना ले लेना चोरी नहीं तो क्या है ? जैसे कोई मनुष्य दूसरोंकी वस्तुओंको उनके स्वामीकी आज्ञाके बिना ग्रहण करता है तो वह चोर कहा जाता है, ठीक उसी तरह अप्कायके जीवोके शरीरको बिना उनकी आज्ञाके हरण करना चोरी करना ही है। कोई यों कहे कि कूप, तालाव, सरोवर इत्यादि जिसके अधिकारमे हैं उसकी आज्ञा लेकर उनका जलपान किया जाय तब अदत्तादान नहीं है क्योंकि स्वामीकी आज्ञा ले ली गई है, तो उनका यह कथन योग्य नहीं है। क्योंकि अप्कायके जीवोंके शरीरका मालिक

अप्कायके जीवके अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकता। परमार्थ-दृष्टिसे कोई किसी दूसरे जीवका स्वामी नहीं हो सकता।"
( आचारांग १।१।३ · २६ पृष्ठ ५७ अनुवादक पं० मुनि सौभाग्यमलजी महाराज )।

## १६ : विरोधी पहेलियां :

१—अहिंसाको परम धर्म माननेवाले जैन यज्ञ संस्थाका विरोध करते है। विरोधका कारण है—हिंसा। याज्ञिकोंकी दृष्टिमें वेद विहित हिंसा—हिंसा नहीं, वह निर्दोष है।

२—मूर्ति पूजामें विश्वास न करनेवाले जैन-देवालय निर्माण और द्रव्य-पूजाका विरोध करते है। विरोधका कारण है—हिंसा। मूर्ति पूजकोंकी दृष्टिमें धर्मार्थ हिंसा हिंसा नहीं, वह निर्दोष है।

३—हिंसात्मक करुणाको आध्यात्मिक माननेवाले अनुकंपा मात्रको आध्यात्मिक माननेके विचारका विरोध करते है। विरोधका कारण है—हिंसा। अनुकम्पा धर्मियोंकी दृष्टिमे अनुकम्पाके लिये होनेवाली हिंसा हिंसा नहीं, वह निर्दोष है।

४—अनुकम्पाके लिये होनेवाली हिंसामें अल्प पाप, अल्प दोष है और बहुत निर्जरा। बहुत धर्म माननेवाले यज्ञ-संस्था और मन्दिर निर्माणका विरोध करे, वह युक्ति संगत नहीं लगता।

यज्ञ लोक-कल्याणके लिये किये जाते है। लोक-तृप्तिसे पुण्य होता है और पुण्यसे स्वर्ग मिलता है। यज्ञका उद्देश्य पशु हिंसा नहीं। उसका उद्देश्य है—लोक-तृप्ति। ऐसी यज्ञ संस्थाकी

मान्यता है। मन्दिरोंका निर्माण भी जन-कल्याणके लिये किया जाता है। वे जन साधारणके लिये साधनाके हेतु बनते है। मन्दिर निर्माणका उद्देश्य पृथ्वीकायके जीवोंकी हिंसा करना नहीं। उसका उद्देश्य है—साधनाके साधनका निर्माण। ऐसी मूर्तिपूजकोंकी मान्यता है।

अनुकम्पाका उद्देश्य क्या इससे भिन्न हो सकता है? तब फिर यज्ञ संस्था और मन्दिर निर्माणको सर्वथा सदोष माना जाये और अनुकम्पा निमित्त हिंसाको वैसा न माना जाये, यह क्यों? या तो सबको सदोष मानना चाहिये या सबको निर्दोष? किसीको सदोष और किसीको निर्दोष माननेका आधार मिलना कठिन है।

मेघरथकी कहानी पौराणिक है। आगममे उसका कोई जिक्र नहीं है। सम्भवतः महाभारतकी शिविकी कथाका जैन संस्करण है। समयके प्रवाहमे बहकर ग्रन्थकारोंने उसे अपना लिया। वस्तुतः उसका जैन दृष्टिकोणसे मेल ही नहीं बैठता। पौषध व्रतकी स्थितिमे श्रावक रुपये पैसोंका दान भी नहीं करता तब भला मेघरथने पौषधकी स्थितिमे मासका दान कैसे किया? किया भी तो व्रत विरुद्ध कार्यसे तीर्थंकर गोत्र कैसे बन्धा? इस कहानीकी शास्त्रीय असंगति ही इसकी काल्पनिकता कह देती है। सिद्धसेन, हेमचन्द्र और अमृतचन्द्र जैसे महान् आचार्योंने मास देनेकी करुणा वृत्तिको अधर्म बतलाया है।

## १७ : अध्यात्म-धर्म और लोक-धर्मका पृथक्-करण आचार्य भिक्षुकी एक महान् देन :

आचार्य भिक्षुने जो दृष्टिकोण दिया उसमें समस्याओंका बौद्धिक समाधान सन्निहित है। इसलिये वे सही अर्थमें धर्म-क्रान्तिके महान् सूत्रधार थे। समाज-धारणाके और आत्म-साधनाके धर्मको एक माननेके कारण जो जटिल स्थितियां पैदा होती है उनका सही समाधान इनका पृथक्करण ही है। आजका बुद्धिवादी वर्ग इस विभाजनको बड़ी सरलतासे मान्य करता है। पं० लक्ष्मण शास्त्रीने श्री ह० कृ० मोहिनीके इस पृथक्तावादी सिद्धान्तको स्वीकार करते हुए लिखा है—"इस बटवारेको हम भी पसन्द करते है। (हिन्दू-धर्म समीक्षा पृष्ठ ७०)" मोहिनी कहते हैं—धर्म अर्थात् समाज-धारणाके नियम अथवा सामाजिक जीवनके कानून कायदे। ये कायदे समाज संस्थाके प्राण होते है। ये ही कायदे जैमिनीका कहा हुआ—चोदना लक्षण धर्म है। इसलिये पूर्व मीमासा समाज धारणा शास्त्र है। आध्यात्मिक-शास्त्र समाज धारणा-शास्त्रसे भिन्न है। अध्यात्म शास्त्र आत्मा, ईश्वर, स्वर्ग और मोक्षका विचार करता है। उत्तर मीमासा अध्यात्म-शास्त्र है। अध्यात्म वैयक्तिक होता है और धर्म सामाजिक। यज्ञ, संस्कार, वर्णाश्रम धर्म समाज धारक धर्म है। समाज-धारणा-शास्त्र और अध्यात्म-शास्त्र उन दोनोंकी पूरी फारखती हो जानी चाहिये।" (हिन्दू धर्म समीक्षा पृ० ७०)

महात्मा गाधी भी राष्ट्रकी नीति या व्यवस्थाको धर्मका चोगा नहीं पहनाते थे। उन्होंने "हरिजन" मे लिखे एक लेखमें बताया है—"यदि मैं तानशाह होता तो धर्म और राष्ट्रको अलग-अलग कर देता। मैं शपथके साथ कह सकता हूं कि धर्मके लिये मरनेको तैयार हूं, परन्तु यह मेरा व्यक्तिगत मामला है। इसका राष्ट्रसे कोई सम्बन्ध नहीं है।" एक प्रचारक मित्र वा (पादरी) के प्रश्नके उत्तरमे यह विचार महात्मा गाँधी द्वारा प्रगट किया गया है। उक्त मित्र (पादरी) ने प्रश्न किया था कि-क्या स्वतन्त्र भारतमे पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता होगी? और क्या धर्म राष्ट्र आपके स्वास्थ्य, यतायात, विदेश सम्बन्धी मुद्रा आदि अनेक बातोंकी देखभाल करेगा किन्तु मेरे या आपके धर्मकी देखभाल नहीं करेगा। यह प्रत्येक व्यक्तिका निजी मामला है।

## १८ : वस्तु-स्थितिकी परखके लिये हमारा दृष्टिकोण यथार्थवादी होना चाहिए :

लोक-व्यवहारको तोड़नेका आग्रह न तो आचार्य भिक्षुने किया और न आचार्य तुलसी करते है उनका आग्रह वस्तु-स्थितिको यथार्थवादी दृष्टिकोणसे देखनेका है। कोई जमाना ऐसा रहा होगा जबकि सामाजिक दायित्वको निभानेके लिये समाजके नियमोंको धर्म माना जाता था। आजका मनुष्य कर्तव्यके नाम पर आगे बढ़ गया है। वह सामाजिक दायित्वो

को धार्मिक दृष्टिसे पूरा करनेकी अपेक्षा कर्तव्यकी दृष्टिसे पूरा करनेको अधिक महत्व देता है। बुद्धिवादी युगमे स्वर्ग और राज्यके प्रलोभनमें वह आकर्षण नहीं रहा जो समाजकी परस्परावलम्बनकी सिद्धान्तवादितामे है। आचार्य भिक्षुका दृष्टिकोण इस दिशामे एक नया प्रयोग है। उनके अनुयायी सामाजिक आवश्यकताओंकी पूर्तिको धर्म नहीं मानते। वे उन्हें शुद्ध सामाजिक दृष्टिकोणसे पूरा करते है। वर्तमान युग भी सामाजिक आवश्यकताओंकी पूर्ति धर्म-पुण्यके नाम पर नहीं किन्तु सामाजिक न्याय, सहयोग और अधिकारके स्तर पर करना सीखता है। मनुष्य-मनुष्यके बीच जो हीनता और उच्चताकी भावना बनी उसमें दान द्वारा पुण्य कमानेकी भावनाका प्रमुख हाथ है। सामाजिक साथियोको दीन-हीन रखकर उनके प्रति परोपकार, दया और दानका व्यवहार करना वैयक्तिक जीवनवादी समाज व्यवस्थाके परिणाम हैं। आजके युगमें समानाधिकारका स्वर सफल हो गया और अब उनका निर्वाह करनेकी आवश्यकता नहीं रही। सामाजवादी जीवन व्यवस्थामे एक दीन रहे और दूसरा उस पर दया कर धर्म-पुण्य कमाये—इसका कोई महत्व नहीं रहा। उसमें कोई दीन-हीन रहे ही नहीं इसे महत्व दियाजाता है। सामाजिक व्यक्तियोंकी हीनतासे उत्पन्न करुणा समाजकी दुर्व्यवस्थाको चुनौती है। उसे धर्मका रूप देनेवाले प्रकारान्तरसे दुर्व्यवस्थाको प्रश्रय देते है। किसी युगमें वह भावुकता उपयोगी रही होगी

किन्तु इस अधिकार जागरणके युगमें उसका कोई उपयोग नहीं रहा। युगकी परिवर्तित चेतना पर प्रकाश डालतेहुए प्रो० नगेन्द्रनाथ सेन गुप्तने लिखा है—"एक समय था जब सामाजिक कल्याण और परोपकारकी भावनासे प्रेरित होकर कुछ सामाजिक कार्यकर्ताओंने अंधोंको सहायता और सुख पहुंचानेके लिये उन्हें कुछ सिखाना-पढ़ाना शुरू किया था। समाजका बोझ हलका करनेके लिये उन्होंने अन्धोंके लिये विद्यालय और आश्रम भी खोले। पर लोक-चेतनाके विकास और व्यापक जन-जागृतिके कारण आज हर अन्धे बच्चेका शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार माना जाने लगा है। अधिकांश सभ्य देशोंमे आज अन्धोंकी शिक्षा अनिवार्य है और सरकार तथा जनता शिक्षा प्राप्त करनेके बाद उन्हें उपयुक्त कार्य और सामाजिक अवसर देनेकी भी भरपूर चेष्टा कर रही है।"

(नया समाज, पृष्ठ १८२ सन् १९५३)

आध्यात्मिक धर्मका भाग्य लौकिक धर्मके साथ जुडा रहा तो उसका अस्तित्व ही मिट जायगा। विवेक इसीमे है कि हम दोनोंके मर्यादा भेदको समझें और उसीके आधार पर स्थितियों और कर्तव्योका मूल्य आकें। एकांगी दृष्टिमे पूर्वाग्रह पलता है। नया दृष्टिकोण पच नहीं सकता। इसलिये वह कुछ चोट भी पहुंचा सकता है। उसका समाधान लोक धर्म और आत्म धर्मके भूमिका भेद, स्वरूप भेद और मर्यादा भेदका विवेक ही है। इसका विकास बुद्धिवादी जगके लिये वरदान सिद्ध होगा।

[illegible]

दान दिया, दोनोंमें बड़ा दानी कौन और कैसे ?
एक छोटी पूंजीका व्यक्ति जो निःस्वार्थ-भावसे देश तथा समाज सेवाके कार्योंमें दिन-रात रत रहता है और उन्हींमें जिसने अपना सर्वस्व होम दिया है वह क्या लाखों-करोड़ों रुपयोंका दान करनेवालोंसे छोटा दानी है ?

## चतुर्थ पाठकी प्रश्नावली

१ क्या दस हजारका कोई दानी पाँच लाखके किसी दानीसे बड़ा हो सकता है ? उदाहरण-द्वारा स्पष्ट करके बतलाओ ?
२ पाँच पाँच लाख रुपयोंका समान दान करनेवाले चार सेठों डालचन्द, ताराचन्द, रामानन्द और विनोदीराममें कौन बड़ा और कौन छोटा दानी है ?
३ गुप्त दान करके अपना नाम भी न चाहनेवाले सेठ रामानन्द को बड़ा दानी माननेमें क्या कोई आपत्ति है ?
४ किसी दानीका छोटा या बड़ा होना किस बातपर निर्भर है ?
५ सेठ दयाचन्द, सेठ ज्ञानानन्द, लाला विवेकचन्द और बाबू सेवाराममेंसे किसीके भी दानकी तुलनामें सेठ डालचन्द, ताराचन्द और विनोदीरामके दानोंका क्या मूल्य है ?
६ (क) दस दस हजारकी समान रकमके दानी सेठ दयाचन्द, ज्ञानानन्द, विवेकचन्द और सेवारामजी क्या एक ही कोटि-के समान दानी हैं—उनमें कोई बड़ा-छोटा नहीं है ? और (ख) क्या वे दानके समान फलको प्राप्त होंगे ?
७ पुस्तकसे भिन्न दूसरे कुछ ऐसे उदाहरण उपस्थित करो जिनसे यह समझा जा सके कि दानीके बड़ा-छोटा होनेमें दान-द्रव्यकी संख्याका कोई विशेष मूल्य नहीं है ?

---